साप्ताहिक
Live not just breaTHE

दि कार्मिक पोस्ट

MPHIN/2015/63220
MP/IDC1528/16-18

Global School Of Excellence, Obedullaganj

वर्ष : 7, अंक : 12 (प्रति बुधवार), इन्दौर, 10 नवंबर से 16 नवंबर 2021 पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

शून्य उत्सर्जन का लक्ष्य और हम भारत के लोग

ग्लासगो में आयोजित संयुक्त राष्ट्र के जलवायु परिवर्तन संबंधी सम्मेलन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने जलवायु परिवर्तन को लेकर कम विकसित देशों की चिंताओं को मजबूती से सामने रखा। पश्चिमी देशों के विशुद्ध शून्य उत्सर्जन के लक्ष्य से लगाव की अपनी वजह हैं लेकिन भारत ने बहुत स्पष्ट तरीके से यह दिखा दिया कि जलवायु परिवर्तन से जुड़े कदमों को समावेशी और समतापूर्ण समृद्धि हासिल करने के प्रयासों से अलग नहीं किया जा सकता है।

हमारे साझा ग्रह को चुनिंदा जलवायु योद्धाओं के सहारे नहीं देखा जा सकता जहां कुछ अन्य देशों को भुला दिया जाए। ऐसा करने से जलवायु के मोर्चे पर निष्क्रियता कमजोर के खिलाफ हथियार बन जाती है। अगर दुनिया ने बांग्लादेश की स्थापना के बाद से ही उसके जलप्लावित होने की चिंता नहीं की लेकिन अब जबकि वैश्विक तापवृद्धि के कारण अमीरों के पसंदीदा समुद्र तट पानी में डूब रहे हैं, तो भला बांग्लादेश क्यों चिंता करे? एक ठिगना और अल्पपोषित भारतीय बचा अपने जीवन में वैश्विक तापवृद्धि से अधिक प्रभावित होगा और स्वस्थ तथा बेहतर पोषण वाले नॉर्वे के बच्चे पर इसका चरणबद्ध असर होगा। हमारे इस साझा ग्रह की चिंताओं को उन बातों तक सीमित नहीं रखा जा सकता है जहां सामूहिक कदमों की जरूरत है क्योंकि इससे अमीरों के बच्चे भी प्रभावित होते हैं। गत 21 अक्टूबर को भारत ने कहा कि किसी देश द्वारा विशुद्ध शून्य उत्सर्जन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए वर्ष तय करने के बजाय हमें विशुद्ध शून्य उत्सर्जन तक पहुंचने की राह तलाश करने की जरूरत है। इसकी अनदेखी कर दी गई क्योंकि जलवायु परिवर्तन से लड़ने वाले और अमीर देशों को रास्ते की परवाह ही नहीं है। अपने ही गरीब और निःशक्त नागरिकों के प्रति उनका व्यवहार इसका गवाह है। यही वजह है कि जलवायु विज्ञान में ऊर्जा पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है। ऊर्जा एक मध्यवर्ती वस्तु है। इसका इस्तेमाल स्कूल में उजाला करने में भी हो सकता है और वेश्यालय में भी। अगर ऊर्जा का स्रोत नवीकरणीय हो तो अमीर इसके इस्तेमाल को लेकर लापरवाह रहते हैं। परिणामस्वरूप, ग्रामीण ब्रिटेन के कई हिस्सों में रविवार को सार्वजनिक परिवहन ठप रहता है। यानी जिनके पास कार है, केवल वही बाहर निकल पाते हैं। अगर कारें इलेक्ट्रिक हैं तो विशुद्ध शून्य उत्सर्जन की दृष्टि से कोई दिक्कत नहीं है। ग्रामीण यूरोप के लिए कार बहुत बुनियादी जरूरत है जब तक लोग इलेक्ट्रिक कार को नहीं अपना लेते हैं किसी को बिना कार वाले लोगों की परवाह नहीं है। ऊर्जा के इस्तेमाल में बदलाव को इस बदलाव के रास्ते के चयन से अलग कर दिया गया है। भारत खुशकिस्मत है क्योंकि उत्पादकता और समता बढ़ाने से जुड़ा लगभग हर कदम कार्बन उत्सर्जन कम करने वाला होगा। हाथ से गंदगी साफ करना, खुली कोयला खदानें, पानी की यादा खपत वाली हरित क्रांति आधारित कृषि तथा ऐसी अनेक गतिविधियां लाखों नागरिकों को कम मेहनताने वाले रोजगार के भरोसे छोड़ देती हैं। इन कामों को अधिक उत्पादक तरीके से करने मसलन जीरो बजट प्राकृतिक खेती, जैव विविधता से जुड़ी गतिविधियां और बेहतर सफाई आदि की मदद से उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है तथा कार्बन उत्सर्जन कम किया जा सकता है। लेकिनऐसे बदलाव के लिए वित्तीय सहायता चाहिए। इस मोर्चे पर अमीर देश बहुत स्वार्थी हैं। अमीर देशों में संपत्ति बुजुर्गों के पास रहती है, न कि युवाओं के पास। परिसंपत्ति स्वामित्व के पैमाने पर देखें तो अमीर देशों में 40 से कम उम्र के लोग सन 1930 के बाद इस आयुवर्ग के सबसे गरीब हैं। बुजुर्गों के पास काफी बचत है और वे उसके प्रतिफल पर गुजारा करते हैं। भारत जैसे युवा आबादी वाले देशों में प्रतिफल अधिक है। ऐसे में तार्किक रूप से तो अमीर से गरीब देशों की ओर ही वित्तीय सहायता आनी चाहिए ताकि उत्पादकता बढ़े और जलवायु परिवर्तन को लेकर समुचित बदलाव किए जा सकें। ध्यान रहे कि यह दलील मदद के लिए नहीं है बल्कि इसका वाणिज्यिक गुणा गणित भी है जो उस स्थिति में अत्यधिक मूल्यवान साबित हो सकता है जब इसमें निहित सार्वजनिक हित का मूल्यांकन किया जाए क्योंकि लोग लगातार कार्बन क्रेडिट और कार्बन कर की बात कर रहे हैं।

परंतु पुराने अमीर इस मोर्चे पर विफल हैं। वे सुरक्षित और कम प्रतिफल वाले निवेश को प्राथमिकता देते हैं, न कि जलवायु और उत्पादकता को। वैश्विक वित्तीय प्रणाली और पश्चिमी सरकारें इस नाकामी में सहभागी हैं। भारत का यह कहना सही है कि इस नाकामी के कारण विशुद्ध शून्य लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रधानमंत्री ने ग्लासगो में जो भाषण दिया उसमें हमारे देश में आत्मावलोकन को लेकर भी गंभीर सवाल उठाए गए। सन 1991 के बाद हुई वृद्धि असमानता से भरी रही है लेकिन बीते पांच वर्षों में अर्थव्यवस्था में मंदी आने के बावजूद असमानता में इजाफा जारी रहा है। मैंने बार-बार कहा है कि सन 1991 में शुरू हुई भारत की विकास गाथा समाप्त हो चुकी है और हमें समावेशी रूप से समृद्धि हासिल करने के नए तरीके तलाश करने होंगे। इसमें अहम नीतिगत लेनदेन शामिल है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन की शक्ति से चलने वाला रेल नेटवर्क होने से परिवहन की उत्पादकता बढ़ेगी और आने वाले कल के हाइड्रोजन उत्पादकता समृद्ध होंगे। ये वे लोग हैं जिनके पास इस तकनीक में निवेश के लिए पैसे हैं और वे आज के जीवाश्म ईंधन के बड़े कारोबारी हैं। यह तब तक सही है जब तक आप यह न पूछें कि रेल परिवहन किसके लिए? यदि इसका उत्तर और पूर्वी भारत के प्रवासी श्रमिक हैं तो यह उसी पुरानी असमानता को बढ़ाने का काम करेगा। उत्तर और पूर्वी भारत में वैकल्पिक पर्यावरण अनुकूल गतिविधियों के कारण रेल परिवहन की मांग में कमी आएगी और कार्बन उत्सर्जन घटेगा। इसके साथ ही देश में समता और समृद्धि बढ़ेगी। शुष्क इलाकों और प्राकृतिक खेती में निवेश करने से लाखों टन अनाज को पंजाब से देश के अन्य हिस्सों में ले जाने से राहत मिलेगी। इससे समता बढ़ेगी और पंजाब की पारिस्थितिकी और कार्बन उत्सर्जन के क्षेत्र में सुधार होगा।

ऐसे में कहा जा सकता है कि भारत ने ग्लासगो में विशुद्ध शून्य उत्सर्जन लक्ष्य हासिल करने की राह के बारे में जो बातें कहीं वे महत्त्वपूर्ण हैं। उत्पादन के मामले में समावेशी और असमानता कम करने वाले विकल्प अपनाना, सामाजिक समता बढ़ाना, विभिन्न क्षेत्रों में असमानता कम करना और कार्बन उत्सर्जन में कमी लाना आदि महत्त्वपूर्ण बातें हैं। यदि हम सफलतापूर्वक इस दिशा में बढ़ सकते हैं तो निस्संदेह हम भारत के लोग 2070 से पहले विशुद्ध शून्य उत्सर्जन के लक्ष्य तक पहुंच जाएंगे। परंतु अगर हम ऐसा नहीं कर पाए लेकिन हमने अमीरों को इलेक्ट्रिक कार मुहैया कराने और कोयला आधारित बिजली की जगह सौर ऊर्जा को अपनाने का काम किया तो हम अपने साझा ग्रह को बचा तो लेंगे लेकिन अपने ही देश की भविष्य की पीढ़ियों के समक्ष हम विफल माने जाएंगे।

साभार

जलवायु समझौते पर अमल की राह बने

मुंबई। जलवायु परिवर्तन पर गठित अंतर-सरकारी पैनल (आईपीसीसी) की हाल में आई एक रिपोर्ट ने सीमित मात्रा में उपलब्ध कार्बन अंतराल को लेकर खतरे की घंटी बजाई है। वर्ष 2015 में हुए पेरिस जलवायु समझौते में औसत वैश्विक तापमान वृद्धि को काबू में रखने के लिए यह कार्बन अंतराल तय किया गया था। उम्मीद जताई जा रही है कि ग्लासगो में हो रहे संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में शामिल देश ग्रीनहाउस गैसों और कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन कम करने संबंधी अपनी प्रतिबद्धताओं में तेजी लाएंगे। यह कह पाना अभी जल्दबाजी होगी कि यह उम्मीद पूरी हो पाएगी या नहीं। लेकिन पिछले जलवायु सम्मेलनों के परिणामों पर नजर डालने से एक मार्गदर्शन जरूर मिलेगा।

संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में जलवायु परिवर्तन सम्मेलन के आयोजन को लेकर जब चर्चा शुरू हुई थी तो कई लोगों ने आशंका जताई। समझौते में किसी सुदृढ़ प्रतिबद्धता का जिक्र नहीं था लेकिन आकांक्षापूर्ण लक्ष्य यही था कि औद्योगिक देश वर्ष 2000 में अपने उत्सर्जन को 1990 के स्तर तक सीमित रखेंगे। यूरोपीय संघ के देशों ने कमोबेश इस लक्ष्य को हासिल भी किया लेकिन अमेरिका इस पर खरा नहीं उतरा और नब्बे के दशक में उसका ग्रीनहाउस उत्सर्जन 15 फीसदी बढ़ गया। हालांकि रूस में अर्थव्यवस्था चौपट हो जाने से उसका उत्सर्जन स्तर लगभग आधा रह गया था। इस लक्ष्य के पूरा न हो पाने के बीच 1997 में क्योटो समझौता हुआ जिसने औद्योगिक देशों से 2008-12 के दौरान ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कम कर 1990 के स्तर से भी 5.2 फीसदी नीचे ले जाने को कहा। लेकिन उस समय के सबसे बड़े प्रदूषक अमेरिका ने क्योटो समझौते को स्वीकार नहीं किया और उसका पड़ोसी कनाडा भी बाद में इससे अलग हो गया था। हालांकि क्योटो समझौते का नतीजा काफी हद तक सम्मानजनक लगता है क्योंकि पूर्व साम्यवादी देशों में आर्थिक गतिविधियां कम हो जाने से उत्सर्जन स्तर में बड़ी गिरावट आई थी। नई सहस्राब्दी के पहले दशक में जलवायु कूटनीति की सियासत में दो अहम बदलाव देखे गए। पहला, प्रतिबद्धता जताने के मामले में विकसित एवं विकासशील देशों के बीच का फासला खत्म हो गया और दूसरा, वैश्विक स्तर पर सहमत प्रतिबद्धताओं की जगह राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित संकल्पों ने ले ली। पहला बदलाव काफी हद तक 1990-2010 के दौरान चीन के उत्सर्जन स्तर पर हुई तिगुनी वृद्धि की देन था। अब चीन सबसे बड़े प्रदूषक का दर्जा हासिल कर चुका था। वहीं दूसरा बदलाव अमेरिका की वजह से आया जो सीनेट की मंजूरी लेने की जरूरत वाली समझौता शर्तों का मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। इस राजनीतिक विचलन की ही परिणति 2015 के पेरिस समझौते के तौर पर हुई। जलवायु परिवर्तन की रफ्तार धीमी करने के लिए पिछले तीन दशकों से जारी इस कवायद का प्रभाव क्या रहा है? ग्रीनहाउस गैसों में प्रमुख कार्बन डाई ऑक्साइड (सीओ2) को सीमित करने पर जोर देने की शुरुआत इन तीन दशकों में ही हुई। इसके बावजूद इस अवधि में हमने 870 अरब टन सीओ2 का उत्सर्जन कर दिया जो 1750 से लेकर 1990 के दौरान हुए कार्बन उत्सर्जन से भी ज्यादा है। कार्बन उत्सर्जन में एक फीसदी या अधिक की हिस्सेदारी रखने वाले 16 देशों की 1990-2010 के दौरान हुए कुल उत्सर्जन में करीब 84 फीसदी हिस्सेदारी रही। छह विकसित देशों का ही सम्मिलित अंशदान करीब 50 फीसदी रहा और पांच विकासशील देशों ने इसमें 36 फीसदी योगदान दिया (जिसका 70 फीसदी अकेले चीन का है)। तेल का निर्यात करने वाले पांच देशों ने इसमें 14 फीसदी भूमिका निभाई। अगर हम उत्पादन के बजाय खपत के नजरिये से इसे देखें तो इन तीनों समूहों की हिस्सेदारी क्रमशः 56 फीसदी, 32 फीसदी और 12 फीसदी रही। हमें ताप वृद्धि को साझा लक्ष्य के नीचे बनाए रखने के लिए उपलब्ध कार्बन अंतराल के मोर्चे पर उठाए गए कदमों पर भी गौर करना चाहिए। आईपीसीसी की रिपोर्ट के मुताबिक, ताप वृद्धि को 1.5 डिग्री सेल्सियस के नीचे रखने की 50-67 फीसदी संभावना के लिए अब से हमें अपने समेकित कार्बन उत्सर्जन में वृद्धि को 400-500 अरब टन सीओ2 तक सीमित रखना होगा, जब तक हम शुद्ध-शून्य उत्सर्जन का स्तर न हासिल कर लें। इसने शुद्ध-शून्य स्तर की निर्धारित तारीख के बारे में कई देशों की प्रतिबद्धता सशक्त की है। हालांकि मंजिल की घोषणा ही काफी नहीं है, वहां तक पहुंचने का रास्ता कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। वैसे हम जलवायु परिवर्तन को थामने की दिशा में अपेक्षित रूप से नहीं बढ़ पाए हैं। लेकिन 1990 में शुरू हुए इस सफर में अब तक का तय रास्ता भी कम अहम नहीं रहा है। उस समय जलवायु परिवर्तन को लेकर एक तरह का संशयवाद एवं अज्ञानता हावी थी और इसके लिए मानव जाति की जिम्मेदारी काफी व्यापक थी जिसमें अमेरिका जैसे उच्च उत्सर्जक देश भी शामिल थे। जीवाश्म ईंधन, खासकर तेल उत्पादन में खासी रुचि रखने वाले पक्ष भी इसे हवा दे रहे थे। लेकिन अब हालात बदल चुके हैं और जलवायु परिवर्तन को लेकर संदेह होना अपवाद बनकर रह गया है, चाहे ऐसा करने वाले पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति ही क्यों न हों? इस जागरूकता का बड़ा श्रेय संयुक्त राष्ट्र के जलवायु परिवर्तन सम्मेलनों को दिया जाना चाहिए जिसने दुनिया भर के वैज्ञानिकों को आईपीसीसी के बैनर तले एकजुट होने और पूर्वानुमान लगाने के अवसर दिए। जलवायु परिवर्तन के बारे में बढ़ती जागरूकता का कॉर्पोरेट क्षेत्र पर गहरा असर रहा है और तमाम बड़ी कंपनियों ने शुद्ध-शून्य स्तर के प्रति अपनी प्रतिबद्धता भी जताई है। इसने नवीकरणीय ऊर्जा संबंधी शोध को गति भी दी है जिससे ऐसी नाटकीय लागत कटौतियां मुमकिन हो पाई हैं। इससे जीवाश्म ईंधन के बजाय ऊर्जा निवेश पर अधिक बल मिला है। असल में, जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए तकनीकी नवाचार और नीतिगत विकास अहम हैं ताकि बाजार की पसंद ईंधन से दूर हो। बढ़ती जागरूकता ने वैश्विक गैर-सरकारी संगठनों का तीव्र प्रसार भी किया है जो समझ बढ़ाने, सूचना इकट्ठा करने के साथ असरदार ढंग से बात रखते हैं।

साभार - प्रजा ट्र अर्थ

कोविड-19 महामारी का एक दुष्परिणाम आर्थिक असमानता में आई तेजी...

कोविड-19 महामारी का एक दुष्परिणाम आर्थिक असमानता में आई तेजी है। भारत की टीकाकरण नीति का डिजाइन इसे और बढ़ाने का काम करेगा। टीकाकरण की दर उच्च आय वाले समूहों में कहीं ज्यादा है। भारत की करीब 130 करोड़ की आबादी में से 78 फीसदी यानी 1 अरब से थोड़े ज्यादा लोग कोरोना टीका लगवाने की पात्रता रखते हैं। इनमें से करीब 75 फीसदी यानी 75 करोड़ लोगों को टीके की कम-से-कम एक खुराक दी जा चुकी है। इसका मतलब है कि 25 करोड़ पात्र लोगों को अभी इस टीके की एक भी खुराक नहीं मिली है। सरकार का दावा है कि लगभग 30 फीसदी पात्र लोगों को दोनों खुराकें दी जा चुकी हैं। इसे मानें तो दोनों दावों के बीच करीब 5 करोड़ का बड़ा फर्क नजर आता है। अगर 75 करोड़ लोगों को एक ही खुराक लगी है तो सीधा गणित यही बताता है कि दोनों खुराकें ले चुके लोगों की संख्या सिर्फ 25 करोड़ है। लेकिन अगर हम यह मान लेते हैं कि दोनों खुराकें लगवा चुके लोगों की संख्या करीब 30 करोड़ है तो फिर एक खुराक लगे लोगों की संख्या 70 करोड़ ही बचती है। हालांकि कोविन ऐप पर एक नंबर से कई लोगों का पंजीकरण कराने की सुविधा दी गई है लेकिन टीकाकरण अभियान के %स्मार्ट डिजाइन% ने स्मार्टफोन न रखने वाले लोगों के लिए टीके की बुकिंग कर पाना मुश्किल बना दिया। भारत में स्मार्टफोन की पहुंच 45-50 करोड़ लोगों तक ही है और उनमें भी बड़ा हिस्सा उच्च आय वर्ग का है। इस तरह इसमें अधिक आय वाले समूहों के प्रति एक तरह का पूर्वग्रह साफ देखा जा सकता है। इस तबके के प्रति दूसरा पूर्वग्रह टीका आपूर्ति के सार्वजनिक एवं निजी चरित्र में निहित है। सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों पर टीका मुफ्त में उपलब्ध है और यहां पर करीब 75 फीसदी टीके लगाए गए हैं जबकि टीके का शुल्क वसूलने वाले निजी अस्पतालों पर करीब 25 फीसदी टीके लगाए गए हैं। अधिकांश सरकारी कर्मचारियों एवं सार्वजनिक उपक्रमों के कर्मचारियों की आय कम न होते हुए भी उन्हें सरकारी अस्पतालों में मुफ्त टीके लगाए गए। इस तरह ज्यादा आमदनी वाले समूह काफी हद तक टीका लगवा चुके हैं। लेकिन कम आमदनी वाले तबके बड़े पैमाने पर कोविड टीके से अभी वंचित ही हैं। इसके अलावा लॉजिस्टिक संबंधी समस्याओं की वजह से इस विभेद में शहरी एवं ग्रामीण इलाकों का पूर्वग्रह भी जरूर रहा होगा।हमें यह ध्यान रखना होगा कि महामारी विज्ञान संबंधी सारे भरोसेमंद पूर्वानुमान कोविड-19 की तीसरी लहर आने की बात कर रहे हैं और वह लहर वर्ष 2022 के मध्य तक बनी रहेगी। हालांकि तीसरी लहर की गंभीरता सामूहिक प्रतिरोधकता के स्तर और पहले संक्रमित हो चुके लोगों की संख्या के आधार पर अलग-अलग होगी। इसके अलावा महामारी विशेषज्ञ वायरस की किसी नई किस्म उभरने की आशंका को भी खारिज नहीं कर रहे हैं। यह साफ दिख रहा है कि तीसरी लहर की जद में निम्न आय वर्ग के लोग ज्यादा आएंगे। लॉकडाउन से बाहर आने और रोजगार पर लौटने से इस समूह के लोगों में संक्रमित होने का जोखिम ज्यादा होगा और फिर बाकी लोग भी चपेट में आ सकते हैं। टीकाकरण से वंचित वयस्कों का दायरा बढ़ाने के अलावा कई तरह की बड़ी चुनौतियां भी हैं। इनमें दूसरी खुराक देने से जुड़े इंतजाम और शुरुआती दौर में दोनों खुराकें लगवा चुके लोगों में प्रतिरोधकता कम होने पर उन्हें बूस्टर खुराक देने के साथ-साथ 18 साल से कम उम्र के किशोरों का भी टीकाकरण करने से जुड़ी चुनौतियां शामिल हैं। इसके साथ ही वायरस की नई किस्मों से निपटने के लिए ज्यादा असरदार टीकों के विकास से जुड़े शोध की भी जरूरत होगी। यह देखा जाना बाकी है कि इन चुनौतियों का कितने प्रभावी ढंग से सामना किया जाता है? आय आधारित पूर्वग्रहों से के-आकृति वाला टीकाकरण दायरा बन रहा है और अगर टीका नीति में आमूलचूल बदलाव नहीं किए गए तो भविष्य में भी यह आकार बना रह सकता है। भारत में महामारी आने के पहले के-आकृति वाली अर्थव्यवस्था मौजूद थी। क्रेडिट सुइस की ग्लोबल वेल्थ रिपोर्ट की मानें तो वर्ष 2020 के अंत तक शीर्ष 1 फीसदी लोगों के पास देश की 40.5 फीसदी परिसंपत्तियां थीं। खास बात यह है कि वर्ष 2020 में अर्थव्यवस्था में संकुचन होने के बावजूद अमीर लोगों की परिसंपत्ति हिस्सेदारी बढ़ी। आय समानता को मापने वाला सूचकांक गिनी को-इफिशियंट 82.3 के बेहद ऊंचे स्तर पर रहा। अगर गिनी सूचकांक शून्य पर है तो यह आय वितरण एकदम समान होने का सूचक होता है।अप्रैल-जून 2020 में लगे सख्त लॉकडाउन में बेरोजगारी बढ़ी थी और इतने समय बाद भी रोजगार स्तर 2018-19 की बराबरी नहीं कर पाया है। रोजगार गंवाने वाले लोग ज्यादातर असंगठित क्षेत्र में थे जो पहले ही नोटबंदी एवं खराब ढंग से लागू हुई जीएसटी प्रणाली के कारण भारी दबाव में था। इसने कम आय वाले समूहों को कहीं ज्यादा प्रभावित किया। वह ढलान गरीबी के आंकड़ों में नजर आएगी। पिछली चार तिमाहियों के कंपनियों के नतीजे भी यही दर्शाते हैं कि संगठित क्षेत्र (जो कि अधिक आय वाला समूह है) ने असंगठित क्षेत्र की तुलना में कहीं ज्यादा तेजी से बहाली की है। यहां पर हमें ध्यान रखना होगा कि असंगठित क्षेत्र में कहीं ज्यादा लोगों को रोजगार मिला हुआ है और इसमें आय भी कम है। हमें एक और दीर्घकालिक चिंता भी सता रही है। स्मार्टफोन एवं ब्रॉडबैंड से लैस उच्च आय वर्गों की ऑनलाइन पढ़ाई तक पहुंच कहीं ज्यादा रही है। लिहाजा पहले से ही के-आकृति वाली शिक्षा व्यवस्था में अब यह और भी ज्यादा गहरी हो गई है। इससे एक युवा कार्यबल के बहुचर्चित जनांकिकी लाभांश लेने एवं भावी उत्पादकता भी घटती है। ये मुद्दे एकदम साफ हैं और किसी भी हाल में उनसे निपटना मुश्किल होगा।

नाइट्रोजन डाइऑक्साइड में वृद्धि दर्ज की गई थी जो पटाखों से बढ़ते प्रदूषण को दर्शाता है

नई दिल्ली। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (एनसीआर) को मौसम की पहली घनी धुंध ने अपने आगोश में ले लिया है और सम्भावना जताई जा रही है कि यह स्थिति अगले दो दिनों तक बनी रह सकती है। यही नहीं सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट (सीएसई) द्वारा बुधवार को जारी नए विश्लेषण से पता चला है कि इस धुंध ने न केवल दिल्ली बल्कि गंगा के पूरे मैदानी क्षेत्र को अपनी चपेट में ले लिया है। रिपोर्ट की मानें तो यह पूरा क्षेत्र एक स्वास्थ्य आपातकाल से गुजर रहा है, ऐसे में प्रदूषण को कम करने के लिए तत्काल प्रभावी कदम उठाने की जरुरत है।

यदि दिल्ली में छाई धुंध की अवधि की बात करें तो यह 2018 और 2020 में मौसम की पहली धुंध की अवधि से लगभग मिलती जुलती है, गौरतलब है कि उस समय इस धुंध का असर छह दिनों तक रहा था। वहीं विश्लेषण के अनुसार यदि हालात नहीं सुधरे तो यह 2019 में आठ दिनों तक छाई रही धुंध से भी आगे निकल सकता है। इस वर्ष अब तक धुंध की औसत सघनता प्रति दिन 329 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर दर्ज की गई है, जोकि 2020 में छाई धुंध से 7 फीसदी और 2019 की तुलना में 3 फीसदी कम है। वहीं 2018 की तुलना में यह करीब 9 फीसदी ज्यादा है। विश्लेषण के अनुसार स्थानीय तौर पर हवा के चलने के बावजूद भी इस वर्ष लम्बी अवधि तक धुंध के छाए रहने की सम्भावना है, ऐसा शहर में प्रदूषण नियंत्रण उपायों की कमी के कारण हो सकता है। इस बारे में जानकारी देते हुए सीएसई की कार्यकारी निदेशक अनुमिता रॉयचौधरी ने बताया कि मौसम की प्रतिकूल परिस्थितियों (ठंडी और शांत हवाएं), पराली जलाने और पटाखों के संयुक्त असर से यह धुंध छा गई है। उनके अनुसार हालांकि दिल्ली पर घनी धुंध छाई है, लेकिन मध्य अक्टूबर से 8 नवंबर, 2021 के बीच पराली जलने के कारण होने वाले धुएं में कमी दर्ज की गई है। उसका दैनिक औसत पिछले चार वर्षों में सबसे कम रहा है। लेकिन 6 नवंबर के बाद से उसमें बढ़ोतरी देखी गई है, जबकि 7 नवंबर को इसकी हिस्सेदारी बढ़कर 48 फीसदी तक पहुंच गई थी। गौरतलब है कि यह अभी भी काफी ज्यादा है। वहीं सीएसई की अर्बन लैब विभाग के प्रोग्राम मैनेजर अविकल सोमवंशी का कहना है, +हालांकि पीएम 2.5 की बहुत अधिक मात्रा ने सबका ध्यान आकर्षित किया है पर इस धुंध के दौरान ओजोन, कार्बन मोनोऑक्सइड और नाइट्रोजन डाइऑक्साइड का स्तर भी ऊंचा बना हुआ है। यही नहीं दिवाली की रात में सल्फर डाइऑक्साइड और नाइट्रोजन डाइऑक्साइड में वृद्धि दर्ज की गई थी जो पटाखों से बढ़ते प्रदूषण को दर्शाता है। दिवाली की रात (रात 8 बजे से सुबह 8 बजे) पीएम2.5 की एकाग्रता 2017 के बाद से सबसे ज्यादा दर्ज की गई थी। रिपोर्ट के अनुसार दिल्ली में 4 नवंबर को हवा में पीएम 2.5 का स्तर 250 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर दर्ज किया गया था। जो एक्यूआई की गंभीर श्रेणी से भी ज्यादा था। वहीं साथ दिन बाद भी स्थिति में कोई ज्यादा बदलाव नहीं आया है। 5 नवंबर को इसका स्तर 501 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर पर पहुंच गया था जबकि फिर धीरे-धीरे 8 नवंबर को इसका स्तर घटकर 256 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर आ गया था। इसके बाद यह एकबार फिर से बढ़ना शुरु गया था, 9 नवंबर को इसका स्तर 264 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर दर्ज किया गया था। वहीं यदि 10 नवंबर की बात करें तो यदि मौसम की स्थिति में सुधार नहीं होता है, तो इस दिन भी इसका औसत स्तर 250 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर से ज्यादा रहने की सम्भावना है। यदि सिर्फ दिवाली के सन्दर्भ में देखें तो इस वर्ष दिवाली की रात (रात 8 बजे से सुबह 8 बजे) पीएम2.5 का स्तर पिछले पांच वर्षों में सबसे ज्यादा दर्ज किया गया था। 12-घंटे की रात का औसत 747 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर था जोकि 2020 की तुलना में 22 फीसदी ज्यादा था। यही नहीं इस बार दिवाली की रात पीएम2.5 का स्तर पिछले सप्ताह के औसत की तुलना में 4.5 गुना ज्यादा था। यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि सीपीसीबी पीएम2.5 डेटा को 1,000 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर पर सीमित करता है। लेकिन इसका स्तर उससे भी ऊपर जा सकता है। इस बार दिल्ली के 38 में से 26 ऑपरेशनल मॉनिटरिंग स्टेशनों ने 1,000 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर के आंकड़े को पार कर लिया था। वहीं 2020 में, 38 में से 23 और 2019 में 22 स्टेशनों ने इस आंकड़ें को पार किया था। ऐसे में यदि इसे सीमित न किया जाता तो इसका स्तर प्रति घंटा 1,000 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर से भी ज्यादा हो सकता था।वहीं डीपीसीसी की वेबसाइट पर उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि ओखला फेज 2 में इसकी प्रति घंटा एकाग्रता 1,984 और अशोक विहार में 1,957 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर दर्ज की गई थी। वहीं डीपीसीसी के 24 स्टेशनों के लिए 12-घंटे की रात का औसत 824 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर था। वहीं 2020 की तुलना में इस वर्ष दिवाली की रात नाइट्रोजन डाइऑक्साइड का स्तर कम था। रिपोर्ट की मानें तो इस वर्ष पराली जलने से होने वाले प्रदूषण में कमी आई है। जब मध्य अक्टूबर से 8 नवंबर के बीच दिल्ली के दैनिक पीएम 2.5 में धुंए का योगदान पिछले चार वर्षों में सबसे कम दर्ज किया गया था। अब तक यह प्रतिदिन औसतन 12 फीसदी दर्ज किया गया है। वहीं सफर द्वारा जारी आंकड़ों के मुताबिक 2020 में इसकी हिस्सेदारी 17 फीसदी, 2019 में प्रति दिन 14 फीसदी और 2018 में प्रति दिन 16 फीसदी दर्ज की गई थी। गौरतलब है कि दिल्ली के पीएम स्तर में धुएं का सबसे ज्यादा योगदान 7 नवंबर को दर्ज किया गया था, जब यह बढ़कर 48 फीसदी तक पहुंच गया था। देखा जाए तो यह 2018 के बाद सबसे ज्यादा है, इससे पहले 5 नवंबर 2018 को यह 58 फीसदी दर्ज किया गया था। पर हैरानी की बात है कि उस दिन दिल्ली में पीएम2.5 में असामान्य वृद्धि नहीं हुई थी। सीएसई द्वारा किया यह विश्लेषण दिल्ली-एनसीआर क्षेत्र में वायु गुणवत्ता की निगरानी कर रहे स्टेशनों और गंगा के मैदानी इलाकों से रियल टाइम में प्राप्त आंकड़ों पर आधारित है। यही नहीं इस विश्लेषण में पंजाब, चंडीगढ़, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल के 67 शहरों में फैले 156 निरंतर परिवेशी वायु गुणवत्ता निगरानी स्टेशनों (सीएएक्यूएमएस) को शामिल किया गया था। वहीं मौसम सम्बन्धी आंकड़ों के लिए भारतीय मौसम विज्ञान विभाग (आईएमडी) से प्राप्त आंकड़ों, आग सम्बन्धी आंकड़ों के लिए नासा के फायर इंफॉर्मेशन फॉर रिसोर्स मैनेजमेंट सिस्टम से प्राप्त आंकड़ों को लिया गया है जबकि दिल्ली में वायु गुणवत्ता में पराली जलने से होने वाले धुंए की हिस्सेदारी कितनी है इसका अनुमान लगाने के लिए पृथ्वी विज्ञान मंत्रालय की वायु गुणवत्ता और मौसम पूर्वानुमान और अनुसंधान प्रणाली (सफर) से प्राप्त आंकड़ों का इस्तेमाल किया गया है। इस प्रदूषण के बारे में रॉयचौधरी का कहना है कि यह जो धुंध छाई है वो स्वास्थ्य के लिए बड़ा खतरा है। इससे बचने के लिए सभी प्रमुख दहन स्रोतों जिनमें वाहन, उद्योग और अपशिष्ट को जलाना और धूल के स्रोतों जिनमें निर्माण और सड़कें शामिल है उन पर तत्काल कार्रवाई की जरुरत है। हमें प्रदूषण के स्रोतों और उनके हॉटस्पॉट को ध्यान में रखकर कार्रवाई करने की जरुरत है। यही नहीं सीएसई सार्वजनिक परिवहन प्रणाली और साइकिल के उपयोग को बढ़ावा देने की बात कही है जिससे लम्बी अवधि में इस प्रदूषण पर लगाम लगाई जा सके। यही नहीं उत्सर्जन को रोकने के लिए सख्त कदम उठाने के साथ सभी औद्योगिक इकाइयों से प्रदूषण फैलाने वाले ईंधन के इस्तेमाल को बंद करने की बात कही है। इसी तरह कचरे से निपटने के लिए उनका अलग-अलग संग्रह करना और उसे रीसायकल करने के लिए बुनियादी ढांचे को मजबूत करने की जरुरत पर बल दिया है।

जलवायु परिवर्तन, भारत और वैश्विक भविष्य

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने ग्लासगो में जिस पांच बिंदुओं वाली पंचामृत प्रतिज्ञा की बात की, उसके महत्व का आकलन करने के पहले जलवायु परिवर्तन को लेकर चल रही मौजूदा बहस के कुछ बिंदुओं को स्पष्ट करना जरूरी है। विभिन्न देशों से कहा जा रहा है कि वे सन 2050 तक विशुद्ध शून्य उत्सर्जन का लक्ष्य हासिल करें। %विशुद्ध शून्य उत्सर्जन% बैलेंस शीट से संबंधित अवधारणा है। वैश्विक उत्सर्जन को सन 2050 तक शून्य करने की आवश्यकता नहीं है। कार्बन उत्सर्जन में इजाफा जारी रह सकता है, बशर्ते कि इस उत्सर्जन के समायोजन के लिए इससे अधिक कार्बन की खपत की जाए। वनों और समुद्र के रूप में प्रकृति ने हमें ऐसे माध्यम दिए हैं जो कार्बन अवशोषण कर सकते हैं। इनमें समुद्र के भीतर और तटीय इलाकों में होने वाले पेड़ पौधे भी शामिल हैं। कार्बन कैप्चर ऐंड स्टोरेज (सीसीएस) और भू-इंजीनियरिंग उपायों जैसे तकनीकी रूप से व्यवहार्य तरीके भी हैं। निकट भविष्य में केवल प्राकृतिक अवशोषण केंद्रों में विस्तार करके ही नकारात्मक उत्सर्जन बढ़ाया जा सकता है लेकिन 2050 तक के लिए जरूरी क्षमता हासिल करने में दिक्कत हो सकती है।

अब एक नजर डालते हैं एक अन्य बहुपक्षीय आयोजन पर जो अक्टूबर के मध्य में कुमिंग में हुआ- यह था जैव विविधता को लेकर विभिन्न देशों का सम्मेलन। इसने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि किस तेजी से दुनिया के वन समाप्त हो रहे हैं। इसके लिए लकड़ी के लिए वनों की कटाई, जंगल में लगने वाली आग तथा पर्यावरण के स्तर में गिरावट जवाबदेह हैं। समुद्रों में प्लास्टिक का ढेर लग गया है जबकि खतरनाक कचरे के निपटान से तमाम डेल्टा क्षेत्र मृत क्षेत्रों में तब्दील हो गए जहां समुद्री जीवन संभव नहीं है। बढ़ते तापमान और समुद्रों में प्रदूषण के चलते उनमें भी कार्बन उत्सर्जन की खपत क्षमता कम हुई है। अनुमान है कि वैश्विक कार्बन उत्सर्जन का एक तिहाई इन प्राकृतिक माध्यमों द्वारा अवशोषित किया जाता रहा है लेकिन यह क्षमता अब छीज रही है। जलवायु परिवर्तन और जैव विविधता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आप पृथ्वी की जैव विविधता को नुकसान पहुंचाते हुए जलवायु परिवर्तन से नहीं निपट सकते। अब तक जो भी तकनीकी उपाय सुझाए गए उनसे कोई उत्साहित करने वाला नतीजा सामने नहीं आया है। सीसीएस तो दो दशक से मौजूद है लेकिन अब तक किसी कोयला आधारित बिजली संयंत्र को इस तकनीक के जरिये फिल्टर नहीं किया गया। यदि 1,000 मेगावॉट क्षमता वाले ताप बिजली संयंत्र की लागत एक अरब डॉलर आती है तो सीसीएस की स्थापना में भी इतनी ही राशि लगेगी। यह आर्थिक दृष्टि से व्यवहार्य नहीं है। प्रधानमंत्री मोदी ने 2070 तक विशुद्ध शून्य उत्सर्जन लक्ष्य हासिल करने की बात कही है लेकिन इससे दुनिया में जीवों को उत्पन्न खतरे को कम करने में मदद नहीं मिलने वाली। चीन के राष्ट्रपति शी चिनफिंग ग्लासगो में भौतिक रूप से उपस्थित नहीं थे। ऐसे में प्रधानमंत्री मोदी केंद्रीय भूमिका में नजर आए। वह कई वैश्विक नेताओं के साथ मित्रवत चर्चा करते दिखे और यह बात घरेलू स्तर पर कारगर रहने वाली है। उत्सर्जन स्तर में अंतर को देखते हुए भारत का चीन के मात्र 10 वर्ष बाद विशुद्ध शून्य का लक्ष्य हासिल करना उचित और तार्किक नजर आता है। बहरहाल 2070 और 2050 अभी काफी दूर हैं। खासकर दुनिया भर में तेज होते तकनीकी विकास के लिहाज से। हम डेटा संचालित नई दुनिया में हैं और आशावादी लोग मानते हैं कि कृत्रिम मेधा और मशीन की मदद से जलवायु परिवर्तन की समस्या का हल निकलेगा। लेकिन यह खतरनाक दांव है। अब देशों ने प्रतिज्ञा ली है कि 2030 तक मीथेन उत्सर्जन 30 फीसदी कम किया जाएगा और उसी वर्ष से निर्वनीकरण की प्रक्रिया को भी पलटा जाएगा। मीथेन अल्प आयु वाली ग्रीनहाउस गैस है लेकिन यह कार्बन डाइऑक्साइड को गर्म करने में योगदान करती है। ग्रीनलैंड और साइबेरिया में बर्फ पिघलने से उनके नीचे दबी मीथेन वातावरण में फैल सकती है। वहीं निर्वनीकरण की प्रक्रिया को तब तक नहीं पलटा जा सकता है जब तक कि वृक्षों की कटाई को पौधरोपण पर तवज्जो दी जाती रहेगी। इस संदर्भ में देखें तो शेष चार अमृत तत्त्व, जिनका उल्लेख प्रधानमंत्री मोदी ने किया था वे अधिक निकट, महत्त्वपूर्ण और अहम हैं। मोदी ने यह प्रतिज्ञा जताई कि 2030 तक भारत की गैर जीवाश्म ईंधन क्षमता 500 गीगावॉट हो जाएगी, पहले 450 गीगावॉट का लक्ष्य तय किया गया था। नवीकरणीय और स्वच्छ ऊर्जा पर जोर दिया जा रहा है जिसके चलते अब से 2030 के बीच अरबों टन कार्बन उत्सर्जन में कमी आएगी। सकल घरेलू उत्पाद में होने वाली वृद्धि में कार्बन की तीव्रता 2030 तक 45 फीसदी कम होगी जबकि पेरिस में इसके 33-35 फीसदी रहने का लक्ष्य तय किया गया था। प्रधानमंत्री मोदी ने यह भी कहा कि 2030 तक देश की ऊर्जा का 50 फीसदी हिस्सा गैर जीवाश्म ईंधन से आएगा। बाद में विदेश सचिव ने स्पष्ट किया कि प्रधानामंत्री उस समय तक स्थापित उत्पादन क्षमता का जिक्र कर रहे थे। पहले इसे 40 फीसदी तय किया गया था। हालांकि इसका अर्थ यह भी है कि निकट भविष्य में कोयला आधारित उत्पादन प्रमुखता से बना रहेगा। ये प्रतिज्ञाएं निश्चित रूप से बढ़ी हुई महत्त्वाकांक्षा दर्शाती हैं और विकसित देशों पर दोबारा ध्यान केंद्रित कर दिया है क्योंकि वे अभी भी अपनी जवाबदेही से भाग रहे हैं और ऊर्जा परिवर्तन का बोझ लगातार विकासशील देशों पर डाल रहे हैं। प्रधानमंत्री मोदी की यह मांग सही थी कि जलवायु को लेकर उचित निर्णय हों और विकसित देश, विकासशील देशों द्वारा जलवायु परिवर्तन के लिए उपयुक्त कदम उठाने को लेकर समुचित वित्तीय और तकनीकी मदद मुहैया कराएं। उन्होंने एक लाख करोड़ डॉलर की राशि का उल्लेख किया लेकिन इसके वितरण के लिए समयावधि का जिक्र नहीं किया था। अंतरराष्ट्रीय सौर गठजोड़ में भी कुछ खास प्रगति नहीं हुई है। इसकी पहल 2015 में पेरिस में भारत ने ही की थी। 2018 में घोषित एक सूर्य, एक ग्रिड, एक विश्व परियोजना को यूके के साथ मिलकर आगे बढ़ाया गया है लेकिन उसके पास अपनी एक संबद्ध हरित ग्रिड परियोजना है। साझा सीमा पार ग्रिड तैयार करना बहुत कठिन काम है। विश्व स्तर तो छोड़िए, क्षेत्रीय स्तर पर ऐसी ग्रिड तैयार करना भी आसान नहीं। दुनिया के संवेदनशील हिस्सों में मौसम की अतिरंजित घटनाओं के बढ़ने को देखते हुए प्रधानमंत्री मोदी ने कॉलिशन फॉर डिजास्टर रिसाइलेंट इन्फ्रास्ट्रक्चर के तहत इन्फ्रास्ट्रक्चर फॉर रिसाइलेंट आइलैंड स्टेट्स नामक पहल की घोषणा की। इसके लिए वित्तीय सहायता जुटाना प्रमुख चुनौती है। भले ही इस पर तत्काल ध्यान न दिया जाए लेकिन इससे भारत की पर्यावरण प्रतिबद्धताओंको मजबूती मिलेगी।

साभार - (डाउन टू अर्थ)

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक सोनल मेहता केलिए प्रतीक्षा ग्राफिक्स, 127 देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर (म.प्र.) से मुद्रित एवं 209-बी शहनाई रेसीडेंसी-2 कनाड़िया रोड इंदौर (म.प्र.) से प्रकाशित। संपादक: डॉ. सोनल मेहता फोन : 0731-2595008 Mail.sonal12mehta@yahoo.co.in 9755040008